दिलीप चिंचालकर

पिपलिया सेठ

"पिपलिया सेठ, केम छो? मज़ा मा?"

मैं मन ही मन पूछता और मन ही में उत्तर देता। पिपलिया सेठ मज़े में हैं या नहीं यह जानने के लिए पूछना ज़रूरी नहीं था। वो तो दिखाई ही दे रहा था। कभी मेरा ही पाला-पोसा आज आसमान छू रहा था। दिन-रात चाहने वालों से घिरा रहता। उसकी छाँव में टिकने वाले हज़ार रहते। कभी-कभी मैं भी आधा कल्लाक बैठ जाता और उसकी व्यस्तता को देखकर खुश होता। पचास बरस पहले कौन बता पाता और मैं भी कहाँ सोच पाता कि इस मरूँ-मरूँ करने वाले का कामकाज एक दिन दोनों जहान में होगा।

हुसैन साहब को छोड़िए, डाकिए तक को पता न था कि संयोगितागंज हाईस्कूल फुर्सतगंज में आता है। और पता होता तो भी कैसे? यह नाम मेरे पिता का दिया हुआ था। मुहल्ले के उस हिस्से को जिसमें मैं और मेरा पट्ठा डोलते पाए जाते थे। परीक्षा के दिन क्या होते थे मुझे याद नहीं। इसलिए हम सातों दिन, बारहों महीने मटरगश्ती किया करते थे। साल पूछोगे तो याद नहीं। पर इतना याद है कि उन दिनों शम्मीकपूर की फिल्म *तुमसा नहीं देखा* टॉकीज़ में चल रही थी और तोस पाँच पैसे में एक मिलता था। फुर्सतगंज के एक छोर पर वह स्कूल था जहाँ मशहूर पेंटर हुसैन कभी इमला याद करते थे। और दूसरे छोर पर रहता था मेरे यहूदी मित्र नेमी मोजेस का कुनबा।

इस किस्से की शुरुआत पुंगी बजाने के शौक से हुई। एक दोपहर मैं पंचिंग मशीन से अखबारी कागज़ की टिकलियाँ बना रहा था कि बाहर गली में पीं पीं की आवाज़ें उठने लगीं। मैंने बाहर आकर देखा। मेरा पट्ठा मुँह में कुछ दबाकर बजा रहा था। मुझे देखते ही उसने पीपल के पत्ते को लपेटकर बनाई पींपीं मेरे हाथ में थमा दी। पट्ठे ने होंठों से चबा-चबाकर उसकी सिवई बना डाली थी। फिर मुझे खुश करने के लिए वह कहीं से पीपल का एक पौधा उखाड़ लाया। मैंने सोचा कि अपने पास पीपल का पेड़ हो तो पत्ते ही पत्ते होंगे। तब अपन खूब पुंगियाँ बना सकेंगे। और मुहल्ले के दूसरे बच्चों को एक टोस में एक पुंगी बेचेंगे। बागड़ के पास मिट्टी को खुरचकर हमने पौधा वहीं रोप दिया। पौधे की तो जैसे जान ही निकल गई थी। दो दिनों तक वह मरे जैसा पड़ा रहा। मैंने उसे सुबह-शाम दूध और ओवल्टीन पिलाया। पट्ठे ने पानी में सत्तू घोलकर उसे डाला। मुझे लगा कि सूरज ने उसकी जड़ें देख ली हैं, अब वह ज़िन्दा नहीं बचेगा। लेकिन उसी सप्ताह बारिश शुरू हो गई और पौधा जी गया।

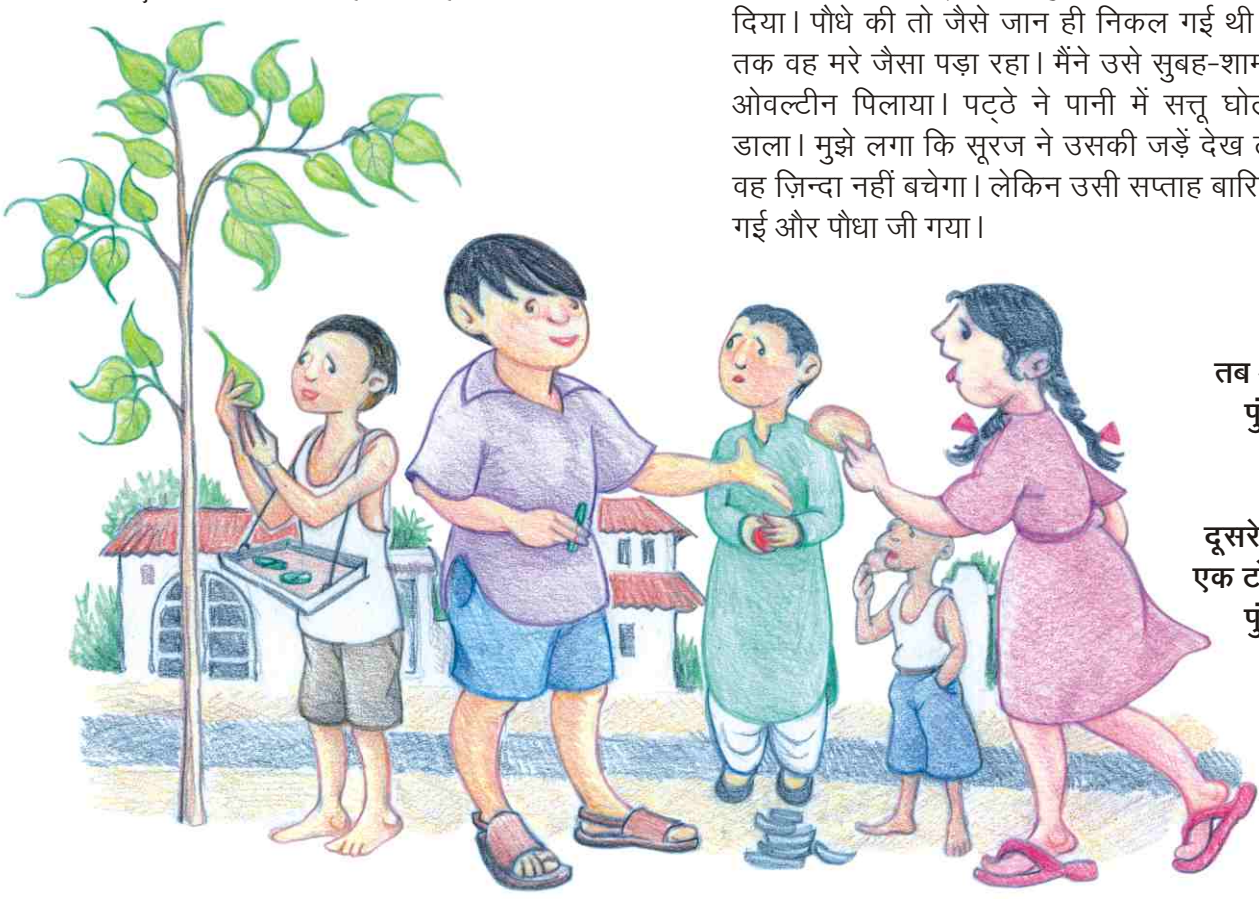

तब अपन खूब पुंगियाँ बना सकेंगे। मुहल्ले के दूसरे बच्चों को एक टोस में एक पुंगी बेचेंगे।

नौकरी-धन्धे से पल्ला झाड़कर अब मैं अपनी मर्ज़ी का मालिक बन गया था। एक दिन हिम्मत जुटाकर फुर्सतगंज पहुँच ही गया।

बारिश में पौधे की तबियत हरी हो गई। दशहरे को मैं नए जूते पहनकर उसके साथ खड़ा हुआ तो वह मेरा कन्धा छू रहा था। पिताजी ने उसके आसपास बाड़ लगा दी ताकि बकरियाँ उसके पत्ते न चबा सकें। हम उसके पत्तों से कभी-कभी पुंगी बना लेते थे। लेकिन पुंगियों का व्यापार हमारी उम्मीद के मुताबिक न चला। जाड़े के दिन आते-आते हम उसे भूल गए और फिर वह जैसे गायब ही हो गया। सारे पत्ते झर जाने से समझ में नहीं आ रहा था कि पौधा वहाँ है भी या नहीं। बसन्त आया तो वह फिर दिखाई देने लगा। चिकनी लाल-हरी कोंपलों से लदा हुआ। उसका कद भी शायद कुछ बढ़ गया था। गर्मी की छुट्टियों में हमने फिर उसकी पत्तियों से पुंगियाँ बनाईं, लेकिन ज़्यादा नहीं।

इसके बाद जो बारिश का मौसम आया उसमें मेरा पीपल मुझसे दो हाथ ऊपर निकल गया। अब उसमें मस्ती भर गई थी। हवा चलती तो वह खूब लहराता। लगता मुझे चिढ़ा रहा हो। मैंने उसकी ओर ध्यान देना बन्द कर दिया। कभी-कभी खिड़की से झाँकने पर बागड़ से ऊपर डोलता पीपल दिख जाता। मैं उसे नज़रअन्दाज़ कर देता।

साल-डेढ़ साल बाद की बात होगी। कुछ बड़े लड़के हमारे मैदान में फुटबॉल खेल रहे थे। मैदान क्या था, सड़क के बाजू में छूटी बीस-पच्चीस फुट की खाली जगह थी। दाऊ के लड़के ने गेंद को खूब जमकर लात लगाई। फुटबॉल उछली और लगा कि बगीचे में काम कर रहे पिताजी को जा लगेगी। अचानक ठक्क की आवाज़ आई। पीपल के तने ने गेंद को ताकत से रोक दिया था। मैंने पेड़ के पास जाकर देखा – अरे, यह कितना बड़ा हो गया है, और दिखनौटा भी। हरी-सलौनी पत्तियाँ और गोरा-चिट्टा तना। मेरे हाथों से भी तगड़ा था उसका तना। वह मेरी पतंग उड़ाने की उम्र थी। पर पतंग उड़ाना मुझे कभी आया नहीं। पूरे समय कटी पतंगों के पीछे ही भागता रहा लेकिन शायद ही कभी कोई हाथ आई। हवा में हिचकौले खाते आई पतंगों को पीपल ऊपर ही थाम लेता। मैं बगीचे में से हौले से उन्हें उतार लेता।

एक दिन देखता क्या हूँ कि दाऊ पीपल के नीचे एक ओटला बना रहे हैं। दाऊ परली तरफ रहने वाले हमारे पड़ोसी थे। कपड़ा मिल में काम करते थे। बसंतीबाई, उनकी घरवाली ने बताया कि पीपल के नीचे बैठकर दाऊ ने मन्नत माँगी थी। वह पूरी हो गई इसलिए वे ओटला बाँध रहे हैं। दो दिनों बाद एक सिन्दूर पुते भेरुजी ओटले पर बैठे मिले। हमें तो खेलने की जगह मिल गई। वहीं बैठ हम ताश और अन्ताक्षरी खेलते। दाऊ ने अष्ट-चग-पै के लिए एक फर्शी पर खाने भी खोद दिए थे। मैंने पाया कि पास के मोहल्ले के बच्चे मुझे नहीं पहचानते थे लेकिन पीपल के ओटले को अच्छे से जानते थे। छावनी मण्डी के हम्माल और ताँगेवाले भी हमारे घर को पीपलवाले घर के नाम से पहचान जाते थे।

एक दिन हमने मुराई मोहल्ले का घर छोड़ दिन। पहली शाम मैं देर तक पीपल के पास उदास खड़ा रहा। मैंने उसे छुआ, सहलाया। उसका सख्त बादामी तना मेरी हथेली के घेरे से कितना बड़ा था! ऊँचाई में वह घर की छत से ऊपर निकल गया था। चौड़े तने पर सैंकड़ों चींटियों की आवाजाही चल रही थी। फुनगी पर गौरय्यों का चम्बा-चहचहा रहा था। पता नहीं अब कब मिलना हो... खुश रहो मेरे दोस्त।

पचास सालों में मैंने तीन शहरों में रहकर पढ़ाई की और पाँच घर बदले। जीवन

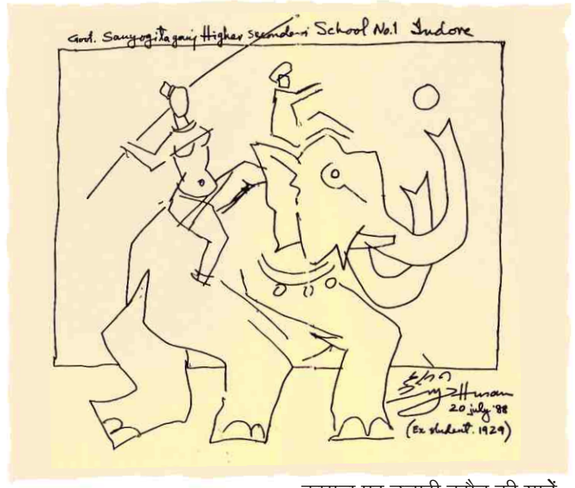

कागज़ पर उतारी हुसैन की यादें

में जो भी पड़ाव आते हैं उनसे गुज़रा। लेकिन फुर्सतगंज जाने से कतराता रहा। एक बार मैंने अखबार में पढ़ा कि चित्रकार हुसैन चप्पलें चटकाते हुए अपने पुराने स्कूल गए थे। वहाँ किसी ने उन्हें पहचाना नहीं। तो पास ही के एक ओटले पर बैठकर उन्होंने अपनी यादों को एक कागज़ पर उतारा और उसे चपरासी को थमाकर चलते बने। तब मुझे मेरे पीपल की खूब याद आई।

नौकरी-धन्धे को छोड़-छाड़कर अब मैं अपनी मर्ज़ी का मालिक बन गया था। एक दिन हिम्मत जुटाकर फुर्सतगंज पहुँच ही गया। वहाँ का सारा भूगोल बदल चुका था। अब वहाँ न मेरा खपरैल वाला घर था। न बगीचा, न नेमी का घर। सिर्फ बड़ी-बड़ी इमारतें थीं। बीच में पीपल का एक बड़ा-सा पेड़ ठाठ से खड़ा था। नीचे लम्बा-चौड़ा ओटला और कृष्णजी का मन्दिर था। मेरा पीपल पिपलिया सेठ बन गया था। दोपहर ढल रही थी। अनगिनत पक्षी उसकी डालियों पर शोर मचा रहे थे। गिलहरियाँ दौड़ रही थीं। दो छत्तों में मधुमक्खियाँ भी पाल रखी थीं सेठजी ने। सड़क पार स्कटर खड़ाकर मैं ओटले पर टिका ही था कि मन्दिर की घण्टी टनटनाई। पीपल के पत्तों की सरसराहट ने पहचानी हुई आवाज़ में कहा, "जय श्रीकृष्ण!" पुजारी ने आकर मेरे हाथ पर एक केसरिया पेड़ा रखा। कहा, "पिपलिया सेठ का सत्कार स्वीकार करो।"

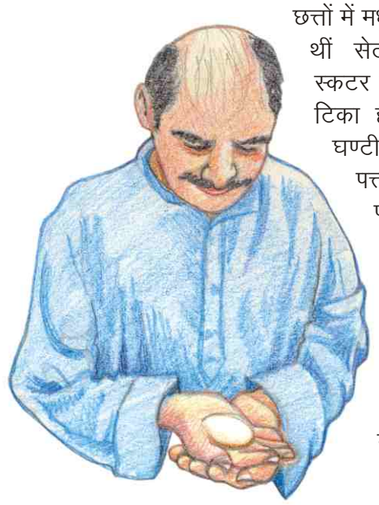

कुछ सोचा है?

एक वृद्धा भारी गठरी अपने सिर पर रखे अपने गाँव से पैदल ही रोहतक जा रही थी। उसके पास से एक अनजान घुड़सवार गुज़रा। तो वह बोली, "बेटे, यह गठरी बहुत भारी है। मैं थक गई हूँ। तुम इसे अपने घोड़े पर रखकर रोहतक तक ले जाओ। मैं पीछे-पीछे आ रही हूँ। वहाँ पहुँचकर तुमसे ले लूँगी।"

"मेरा इतना बढ़िया घोड़ा गठरी ढोने के लिए नहीं है?" कहते हुए युवक ने गठरी लेने से इनकार कर दिया और आगे चला गया।

उसके जाने के बाद वृद्धा ने सोचा, "ओह! मैं कितना गलत करने जा रही थी। वह मेरी गठरी ले जाता तो इतने बड़े शहर रोहतक में मैं उसे कहाँ ढूँढती? शुक्र है, उसके इनकार से मेरा सामान बच गया।"

उधर घुड़सवार ने सोचा, मैंने इनकार करके गलत किया। मैं उसकी गठरी लेकर कहीं का कहीं चला जाता। वह मुझे ढूँढ़ नहीं पाती और सारा माल मेरा हो जाता।"

यह सोचकर वह वापस वृद्धा के पास आया और बोला, "ला माँ, यह गठरी मुझे दे दो। इसे रोहतक में मेरे से ले लेना।"

बूढ़ी माँ ने गठरी देने से इनकार कर दिया तो घुड़सवार ने पूछा, "आप मुझे गठरी क्यों नहीं दे रहीं?"

"क्योंकि कुछ तुमने सोचा, तो कुछ मैंने भी सोचा है।" यह कहते हुए वह वृद्धा अपने रास्ते चली गई।

– गोविन्द शर्मा

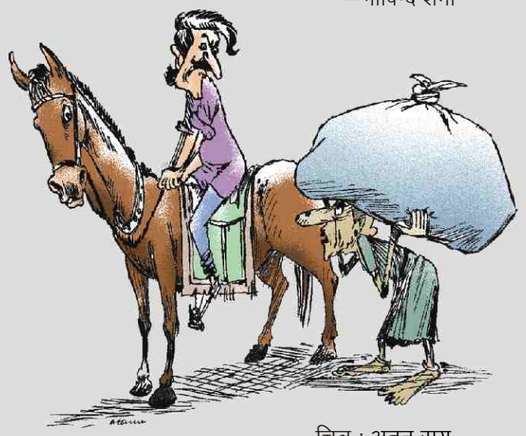

चित्र : अतनु राय